रुग। तम ना तम ा एक एक पान प गण। न कविताओ का प कर माथ भ गरता और मन्का का प कर आपक म्मान भावा और ग्राम के भग तमा ताक खगना ग भाग भ िना न म् मका। नमुच अडा मुन्दर रचनाए । एमा रचनाए हिन्दा में र पन का नहीं मिना।

इलाहाबाद डा लक्ष्मामागर वार्ष्णेय

प्यासा म्ना पाना ाम्न — मकलन का रचनाओ का एक विशपता नका उम्य का पना ार ह। मगर म पना था म वावजूद हम इन रचनाओ का वस्तु उम्य क खान म नश खाग मकन क्योंक नका अभिव्रत य नग ह। नम ाम क अतिरिक्त भा बहुत कुछ ना न्द कविता न ाग ग्नि अच्छा कविता बनाना है। एक आत्माय म्पश एक वगाका एक अखण्डपन आग एक अनव निवान   सब कुछ न रचनाओ म।

मधुमता उदयपुर डा भगवानलाल व्याम

आज क यथाथ दम्गन नग म जब कवि मन का साक्षात्कार होता ह तब ममका मन व्यथा म सगचार हा ना है। परिणाम होता है मक आक्रामा में उबाल आग मका आक्रा मका काव्य नना का मुखर स्वर ग जाता ।

ऋतुचक्र इन्दार विक्रमकुमार

कवि न जा लिखा ह वह अनुभूति क स्तर पर नाग आग भागा भा । यह कारण कि अभिव्यक्ति कहीं भा वाधित नग न पाइ ।

हरिगन्धा चडागढ – विजन्द्रकुमार यादव

वस्तुत डाॅ अग्रवाल न अपना काव्य यात्रा म आज न क अनुत्तरित प्रश्ना का उनर तलाशन का कोशिश का ह।

स्वतत्र भारत लखनऊ मुकेश शारण

खामाग ह म।   व्यक्तिगत अनुभूतिग पर ज्यादा दिया । म तरह स इसम गभारता ह। कहा कहीं जावन का ज्वाला ह कहा आर्थिक मामाजिक राजनातिक अन्याय कहा यथाथ का सच्चाइया का कादागरी ।

नवभारत टाइम्स लखनऊ घनश्याम दुब

आपका कवि मन अकला ह वह ाग न्ा का स्ना ह और अपना प्रतिक्रिया व्यक्त करता चलता ह।

दिल्ला कमलकिशोर गोयनका

भारतगानग व म युग में क्या कविता और क्या कुछ म शिल्प का तरा तथा बुद्धि सर्वाेत स न्ना का स्पश पाकर अच्छा लगा।

रोहतक डा शशिभूषण सिंहल

डॉ भगवतशरण अग्रवाल

साहित्य-भारती
अहमदाबाद-३८० ०१५

सानाली राकश अग्रवाल

प्रकाशक साहित्य-भारती
३९६ सरस्वतीनगर,
अहमदाबाद-३८० ०१५

वितरक बाबुभाई एच शाह
पार्श्व पब्लिकेशन
निशापोल, झवेरीवाड, रिलीफ रोड,
अहमदाबाद-३८० ००१

अक्षर सयोजन लेखित
१० रूपमाधुरी सासायटी,
योगानर्सरी के पास माणेकबाग
अहमदाबाद-३८० ०१५

आवरण चित्र जय पचोली

मुद्रक हरजीभाई पटेल
कृष्णा प्रिंटरी
९६६, नारणपुरा, जूना गाँव,
अहमदाबाद-३८० ०१३
दूरभाष ७४८४३९३

मूल्य ६० रु
विदेशो में १० डॉलर

प्रथम सस्करण दिसम्बर '९७

Modh Par' Poems by Dr Bhagwat Saran Agarwala
396, Saraswatinagar, Ahmedabad - 380 015
Phone Resi (079) 6740778

✻

मोड़ पर....

जिन्दगी कोरी बेबसी सी मिली,
तेरी उलफत भी मुफलिसी सी मिली।
उम्र को अपने वश में रख न सका—
जब मिली कुछ न कुछ घिसी सी मिली।

अनुक्रम

प्रतीक्षा वसत की

सच मानो, तुम्हारी प्रतीक्षा में –
में अकला नहीं हूँ
हल्दी की गाँठों से पीले पत्तों के गिरने से –
लाज से सिमटी जा रहीं मधुमालती की टहनियाँ
और विश्व को निरखने,
गर्म-गर्म साँसे ले रहे शिशुओं सी व्याकुल कचनार की कोपलें –
सभी तुम्हारा इन्तजार कर रहे हैं।
शीत के भार से बोझिल उनींदी-उनींदी चल रही हवाएँ,
आर दरवाजे की ओट से झाँकतीं नववधुएँ,
फाल्गुणी पूर्णिमा के दिन गिन रही हैं।
तुम कहाँ छिप गए हो दोस्त ?
मटर की फलियों में या गेहूँ की बालियों में,
चने के बूटों में या रसीली ऊख के खेतों की आड में ?
क्या तुमने देखा नहीं ?
सौंफ और सरसों, – दोनों जवान हो चुकी हैं
और व घाघरा-चोली नहीं ओनिएँ ओढने को बेकरार हैं।
आम्रमजरी क पाँव फिर से भारी होने को व्याकुल ह,
और पलाश की शाखें निर्वस्त्र हो, शर्म से झुक-झुक पड रही है।
तुमने ये भी नहीं देखा ?
खजन के जोडे गुमसुम स, उदास-उदास उडत ह
मोरों च पख एक-एक कर झड चुके है
आर कोयलों के कठ ! तुम्हारे आगमन की प्रतीक्षा में –
शहनाइयाँ बजाने को व्याकुल ह।
अब तो आकाश में सारसा की पक्तियाँ भी
चुपचाप निकल जाती हैं।
छिछले पानी में उछलती, तैरतीं, इठलातीं खेलती रग-बिरगी चिडिएँ –
नदी किनारों की रेत या पोखरों के किनारों की धूल में नहाती हैं।
सरोवरो म कमलनाल शीत से सिकुड छुईमुई बन गई हैं।
मैने कहा था न दोस्त ! तुम्हारी प्रतीक्षा में –
म अकेला नहीं हूँ।
30 3 94

फिर से –

जब तेरे गाँव से गुजरा तो वक्त रुक सा गया ।
रास्ते पायलो के घुँघरू खनखनाते मिले,
भूली यादों के मुसाफिर, कुछ आते जाते मिले,
हर गली मोड पै चिपके अतीत के पोस्टर,
उखडे उखडे से मिले, सकुचते शरमाते मिले,
आँगनों मे लटके मिले तन्हाइया के दापट्टे,
जब तेरे गाँव से गुजरा तो वक्त रुक सा गया ।
द्वारों क दानों तरफ राम, जय जय राम लिखा,
रुकने का निमत्रण था या लोटने का आग्रह था
चौखटो से झाँकते थे निराशा भरे इन्तजार
खेल समझ जैसे लगा दाँव पर ही जीवन था ।
बूढी आँखो प चढे उदासियों के चश्मे थे
जब तेरो ठाँव से गुजरा तो श्वाँस रुक सा गया ।
मदिरों की घटियाँ कुछ भजन गुनगुनाती मिलीं
चौंतरो पै गाथाएँ, अपने को दोहराती मिली
द्वार टँगे 'मिट्ठू' न पहचानकर दीं आवाजे
लाज से दुहरी हुई, सिमटती थीं दहलीज,
नाचते-थिरकते पापल के पात गुमसुम थे
जब तेरे गाँव से गुजरा तो वक्त रुक सा गया ।
सावनी बूँदो को मुट्ठी में पकडने की तरह,
मैंने उन बीते हुए लम्हा को जीना चाहा,
पनघटों पे छलकती दीवानगी के प्यालों को
आँखो ही आँखो में एक बार फिर पीना चाहा
रगमच जीवित था, बदले थे बस कलाकार,
जब तेरे गाँव से गुजरा तो वक्त रुक सा गया ।
अगस्त '94

सुवास

गध से परिचित तुम्हारी मेरा मन,
जानता है तुम यहाँ आकर गइ हो ।
कक्ष की हर वस्तु परिचित स्पश पाकर,
मुस्कराकर कह रही छूकर गई हो ।

दीवार की तस्वीर को सीधा किया है,
इन किताबों की है झाडी तुमने गर्द
लेखनी से आज फिर बतिया गई हो,
मौन में जिसक विवशताओं का दर्द ।
बन्द स्विच है, चल रहे पखे के पख,
सिर हिलाकर कह रह आकर गई हो ।
गध से परिचित तुम्हारी मेरा मन,
जानता है तुम अभी बाहर गई हो ।

गूँजती आहट अभी तक फश पर,
खोलती है बन्द यादो के सौ द्वार,
उलझनों, अनहोनियों के भँवर को
जिन्दगी की नाव कर पाई न पार ।
कक्ष के बोझिल बने वातावरण मे,
कुछ निरुत्तर प्रश्न दोहराकर गई हो ।
गध से परिचित तुम्हारी मेरा मन,
जानता है तुम यहाँ आकर गई हो ।
31 3 94

समय आ गया है

जिस देश की भूमि को
शहीदों के खून से सींचा गया

उस दश का भाग्य –
लटका हुआ है एक प्रश्नचिह्न के समान
ऐसे कमजोर कधा पर
जो अपना स्वय का बोझ भी –
सम्भाल नहीं पा रहे हैं ।
आर जनता मुँह बाए,
स्वय प्रश्नचिह्नों की कतार बनी,
कभी कहीं लग जाती है, कभी कहीं ।
कुछ व्यक्ति तो उसे –
एक बेंत क समान
कभी एक खूँटी पर टाँग दते हैं
कभी दूसरी पर
और कभी कभी तो उसे
सिर्फ एक कोने में खडा कर दिया जाता है ।
आर वह खडी रहती ह,
वर्षों तक प्रतीक्षा करते
किसी मसीहा के पैदा होने की ।
अब समय आ गया है
जब उसे, हमें तुम्हे –
शतरज के मोहरों से ऊपर उठ
दूसरों के कँधों का सहारा छोड
कमर को सीधा कर
पूर्ण विरामचिह्न बनना पडगा ।
अपनी समस्याओं का हल –
– स्वय खोजना पडेगा ।
और जो लोग
हमें प्रश्नचिह्न बनाए रखना चाहते हैं
उनके मुँह बद कर
देश का भविष्य –
उन कधों पर डालना आर
- उठाना पडेगा

जो स्वतत्र देश के प्रश्ना को सीधा कर
फिर से जनता का
प्रश्नचिह्नो की कतार न वनन दें।
5 1-95

सूरज नहीं उगा

दिन तो निकला है पर सूरज नहीं उगा।
आज सृष्टि को हुआ क्या ह ?
क्या उसन आज चाय नहीं पी
या अखवार पढना भूल गई ह।
व्रश नहीं किया
या इद्रजव का चूण फाँक लिया ह।
मुँह का स्वाद कसला क्यों है ?
स्टोव वन्द है।
फिर भी कुछ जलन की गध आ रही है।
चिडियें ता हें पर —
चहचहा नहीं रहीं,
फूलों की पखुरियाँ भी गुमसुम उदास सी हें,
उनकी महक में क्यों —
वासीपन का अहसास हा रहा ह।
हवाएँ खामोश हें
और वातावरण बदहवास
जरूर कहीं कोई हादसा हुआ ह।
नहीं तो —
सब कुछ होते हुए भी
एक सोमाहीन सूनेपन की प्रतीति होना
अकारण नहीं हो सकती ?
द्वार पर पडी दस्तक
यों मुझे चौंका न देती ?

द्वार खोलते ही कोई पूछता है —
                    हैं क्या ?
और मैं उसके मुँह में —
अनेक बेवजह के प्रश्नों
और कारणों की गंध पाकर
निरुत्तर रह गया हूँ।
18 6 95

गया अवसर

रात के अंधेरों में
कई बार ऐसा हुआ है —
कि मेरे जहन में
एक भूचाल सा आया है
और शब्दों के ढेर
निरी अव्यवस्था के साथ
शोर मचाते दौडते चले आये हैं
'दरवाजा खोलो', 'दरवाजा खोलो' —
हम जन्म लेना चाहते हैं।
खोलो। खोलो। खोलो। खोलो —
और तब यदि आलस्य मरोड,
मैं उठ खडा हुआ हूँ,
मेज पर बैठ कलम की साँकल खोल दी है
तो शब्दों की भीड
कोई साहित्यिक-रूप बन
एक क्यू में खडी हो गई है।
किन्तु ज्यादातर उन्हें सुबह आने को कहकर
मैं चादर तानकर सो गया हूँ।
और सुबह को उनकी याद आने पर
सभी दरवाजे खोलकर बैठ भी गया हूँ —

याचनायें भी की हैं अनक वार —
आआ आओ आओ
मुझे अनुग्रहीत करो।
पर उन लौट गये अतिथियों ने
मुझे कभी माफ नहीं किया है।
27-11 95

ढाई अक्षर

ढाइ-अक्षर प्रेम में निहित शाश्वत सत्य
केवल कबीर पहचान पाया।
इन ढाइ-अक्षरों की अवहेलना करत ही
शुरू हो जाता है शाश्वत ताडव
अन्तर्द्वन्द्व बहिर्द्वन्द्व।
हम क्यों नहीं पहचान पाते इन्हें ?
जब कि आदिकाल से
बस यही होता आ रहा है।
आदमी-आदमी के बीच का,
इन ढाई-अक्षरों का फासला
जब भी कम करने की कोशिशें होती हैं
शुरू हो जाता है नियति का दुष्चक्र।
पृथ्वी जानती है इसे
और इसीलिए वह कभी भी
सूर्य की ओर एक कदम भी बढाने का
साहस नहीं करती।
बस ! झुरती रहती है दिन-रात।
कैसी विडम्बना ह ?
हर व्यक्ति अपने अपने ईश्वर से प्रेम करता है
पर दूसरे व्यक्ति के ईश्वर से नफरत क्यों ?
मेरे तुम्हारे बीच —

इस सतु का न हाना ही
फासले बढा रहा ह ।
रात में चश्मा पहनने से
अधकार कम नहीं होता
उसक लिए तो प्रकाश की किरण ही चाहिए
आर वह मिलती ह —
निश्छल प्रेम के निमल आनद स्रात म ।
30 11 95

यादों के फूल

स्मृतियों की रखाआ से वे फूल
जो तुमन अपनी मखमली मुस्कानें छिडककर
भावनाआ क कोमल धागा स बाँध
कभी किसा कान में कभी किसी वृक्ष की छाह
सुदूर क सपने देखत हुए
मरे बटनहाल में लगाए थे
आज भी सुरक्षित ह —
उमर खेयाम की रुबाइयों के बीच ।
विभिन्न ऋतुआ के ये सदेशवाहक
अपनी अपनी महक की छाप
अलग अलग पन्न पर अकित कर
अकेलेपा से ऊब उदासियों से मुरझा
अपने सदेशा की ऊष्मा से रहित हो
पृष्ठा क बीच दुबके पडे
प्रतीक्षारत हैं किसी कोमल स्पश के ।
तुम्हार दिए हुए वचन
आज भी सुरक्षित हैं मर मन क आँगन म
अलग अलग गमलों में लग
जूही जाई, जामुद और गुलाब के समान ।

यह और बात है कि ये कभी फूल-फल नहीं
और कुछ तो —
पर्णविहीन कैक्टस के समान
शोभा का दृश्य बन
आँगन का एक कोना घर
मुँह चिढ़ाते से लगते हैं।
मैंने तो कैक्टसों पर भी कभी न कभी
फूल आते देखे हैं
यद्यपि वह ज्यादा समय टिकते नहीं।
फिर ऐसा क्यों हुआ कि मेरे आँगन के
इन पौधों पर
कभी कोई फूल नहीं खिला ?
और किताबों में रखे फूल —
किसी जीवन्त स्पर्श की
प्रतीक्षा करते रह गए।
11 6 97

माँ

एक बार फिर से
घर में घुसने पर
मेरी आँखें माँ को ढूँढती हैं
और कान उनके स्वर को।
मैं जानता हूँ
और मैं ही क्यों —
सब जानते हैं कि माँ।
मर चुकी हैं।
शरीर से अब
और मन से न जाने कब ?
शायद तब

जब मेरे पिता मर थ ।
या तब
जब कि छोटे भाई ने उन्ह
अपने साथ न रखना चाहा
सेवा भी उसी न की थी सब से अधिक ।
रुकती नहीं थी कभी माँ की जवान
किसी को भी कभी भी नही बख्शा उन्हाने
अट-शट कुछ भी, कभी भी —
सभी को कहती रहती थीं
इसी से खट्टे थे सभी के मन ।
माँ मुझसे
सब से ज्यादा बतियाती थीं
आर बुरा-भला भी सब से ज्यादा
मुझ ही कहती थी ।
कभी कभी तो उनके शब्दों म
अभिशाप भी होते थे ।
फिर भी
उनके मन के किसी कोने म
में हमेशा छाया रहता था ।
सब से बडा हूँ न ।
सब से ज्यादा लाड-प्यार भी
मुझे ही मिला था ।
इसीलिए अपेक्षाएँ भी
मुझस ही अधिक थीं ।
माय तो सभी की होती हे
पर वे मेरी माँ थीं ।
घर में घुसने पर आज भी
मरी नजरें —
इधर उधर, चारों आर
इस तरह फिरती हैं
जैस वे उन्हें —

खाजकर ही मानगी ।
और वे अभी
किसी भी क्षण, किसी काने म
साकार हो उठेंगी ।
कितनी स्मृतियाँ जुडी है उनक साथ
रामायण से महाभारत तक की ।
व्यर्थ की बातें भी कभी कभी
सार्थक हो उठती हे ।

बडी अच्छी थीं मेरी माँ ।
बडी खराब थीं मेरी माँ ।
फिर भी वह मेरी माँ थीं
मेरी माँ ।
20 6 97

शब्दों की भीड

दिमाग के दरवाजे पर हँसते गाते, नाचते, उछलते शोर मचाते
शब्दों की बेतहाशा भीड में से
कुछ शब्दों को तरतीब से बिठा
तुम्हें पत्र लिखने की कोशिश कर रहा हूँ ।
नहीं हो पा रहा कुछ भी
गड्डमड्ड हो गए हैं शब्द
आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, एक दूसरे को रौंदते हुए
कुभ के मेले में इकट्ठे जनसमूह के समान
एक दूसरे को लहूलुहान करते शब्द ।
इन्हें देखकर लगता है जैसे –
किसी मसालेदान की कुलियें उलट गई हों
आर हींग के साथ

धनिया मिर्ची, नमक जीरा
राई मेथी, सोंठ अजवाइन,
एकाकार हो गए हों।
अपना रग-रूप स्वाद भुलाकर
अपने स्वतत्र व्यक्तित्व का अस्तित्व मिटाकर
भारताय-सस्कृति का अनुकरण कर रहे हों।

ओर मेरा दिमाग सक्रिय हो उठता ह
किस प्रदेश से आई यह सोंफ ?
किस प्रात से आई हल्दी ?
नमक किस समुद्र का ह ?
हींग की राष्ट्रीयता क्या है ?
मिर्ची शब्द की व्युत्पति किस भापा में है ?
किस सम्प्रदाय से जुडा है जीरा ?
आर अदरक न प्लास्टिक सर्जरी कराकर —
सोंठ का जो स्वरूप धरा है
उसे किस वर्ण-धर्म का माना जाए ?
दिमाग ह —
इसीलिए वहकता है,
नहीं तो कोई समस्या ही नहीं थी।
देखो न —
एक दूसरे से लडते
एक दूसरे को कुचलते
कुछ शब्द यदि बाहर निकल भी आते हें
तो उनका व्यक्तित्व
हर वाक्य के साथ बदल जाता हे।
अपने अस्तित्व के महत्त्व से बेखबर
ये शब्द —
कभी कभी अपाहिज भी बन जाते हें
आर निरर्थक सज्ञा से विभूपित भी।
मैं फिर सोचने लगता हूँ —

जत्र अपनी माथक्ता खाकर
जानवर म वदतर दशा में रहता आदमी
कोड-मकाडा को तरह मारा जाता आदमी
मिफ जिन्दा रहने का सघप करता आदमी
एक दम निरपाय परवश —
फिर भी अपने का स्वतत्र मानता ज्ञानी मानता
— सवसत्ताधीश मानता आदमी ।
तो फिर आश्चर्य क्यों ह —
यदि खाखल होत जा रहे शव्द ?
शिरीप के फूलों स कोमल शव्द
कक्टम क काँटों स कँटील शव्द ।
आजकल ता हमार चारों आर
भापणा उपदशों प्रवचनों आर नसीहता में
रेडिया टी वी और लाउडस्पीकरों म
ध्वनि-प्रदूपण वढाते
चीखते चिल्लात वजत रहते हैं त्रस्त शव्द ।
अपने अर्था के विघटन स चिंतित कसमसाते शव्द
परतत्र जनतत्र क निस्महाय नागरिक ये शव्द ।

उनकी पीडा से अनजान नहीं हूँ में ।
मर अपन देश मे ही —
जनतत्र का अर्थ टालाशाही हो गया ह,
परिवार कल्याण का निरोध —
जो सरकार सस्त मूल्य पर दती ह ।
जनता की सेवा का भाव
अव सैकडा म नहीं करोडों-अरवा में पहुँच गया ह ।
भाव-ताव हाता है
समझाते होते ह
और सभी तरह के अनाचार भ्रष्टाचार व्यभिचार
शव्दों के माध्यम से ही हाते ह ।

ब्रह्म क प्रतिनिधि शब्द
ऋचाओं, मत्रों, प्राथनाआ राष्ट्रीय-गानों म पयुक्त शब्द —
वनते जा रहे हें दलाल ।
और इसीलिए अव —
शब्दों न भी वना लिए है दल ।
और जव एक दल का शब्द दूसरे दल में
दाँता में तिनका दवाकर घुसना चाहता है
तो या तो लहूलुहान होकर
या अपना हुलिया वदलकर ही रह पाता है ।

बडे निष्ठुर होते हैं शब्द
बडे भाले हाते हें शब्द
बडे क्लिष्ट हाते हैं शब्द
बडे सरल होते ह शब्द
फिर भी मुझस —
कतियाते रहते हें शब्द ।
वडा प्रेम करते हें मुझसे कुछ शब्द
कुछ घृणा में सडकर टूट जाते हें शब्द
किसी रेल में बेठे मुसाफिरों की तरह
नहीं घुसने दते सरलता से शब्द ।
करोडों किताबों म विखरे हुए
काशा मे क्रमवार लग जाते शब्द
पडौसिया से लडते-झगडते नहीं
देवभापा विभापा मलेच्छ भापा के शब्द ।
पूजन-अर्चन करें अजान दते हुए
मोमबत्ती जलाएँ देवालय मं शब्द ।
देखिए कहाँ स कहाँ ले गए मुझे शब्द ।

जब कि में —
कुछ विशिष्ट शब्दों को एक तरतीब म बिठाकर
सिर्फ एक पत्र लिखना चाहता हूँ ।
कहाँ स शुरू करूँ ?

समझ नहीं पडता।
मान्यवर का अथ सत्ताधीश हा गया ह,
और प्रियवर का 'चमचा'।
में यह भी नहीं समझ पा रहा —
किस भापा में लिखूँ पत्र ?
कुछ भापाओं क शब्द
एक दूसरे पर हावी होने का प्रयत्न कर रहे हें।
कुछ मिल-जुलकर
दूसरों को मारने की खिचडी भी पका रहे हें।
आर मे —
लिखना चाहता हूँ कुछ
आर लिख जाता हूँ कुछ।

शब्द
मेरी आत्मीयता और सहिष्णुता का लाभ उठा
वकाबू होत जा रह हे
आजकल की नई पीढी से
हमारी अपनी ही सतान के समान।
और भापा —
वम्बइया फिल्मा क प्रभाव से
बिन्दास होती जा रही हे।
कभी यही शब्द
अनुष्ठानों में मत्र का काम करत थे।
उनकी आँखो में हया थी
आर अनुशासन प्रिय था।
सत्य का अर्थ —
सत्य ही होता था, शाश्वत सत्य।
बार बार बोले हुए झूठ का बना
आज का सच नहीं।
अब तो यह स्थिति है कि
मैं लिखूँगा कुछ

लाग समझगे कुछ
आर ममझायग कुछ।
मर कुछ शब्द न लिखन स
एसा क्या विगड जानवाला है ?
सत्य न लिखने म
कान मा द्राणाचाय मारा जानवाला ह ?

पर मर चारों आर –
जा सुवह स सुवह तक मँडराते रहते हे शब्द
जागत सात उठते वठत चलत-फिरत
दाडत-भागत खात-पीते टवल पर काम करते
कभी रिश्त जन
कभा परिवश का अग
हर वस्तु क व्यक्ति के
व्यक्तित्व का विश्लपण करत शब्द
निराकार का साकार करत शब्द
माकार क अस्तित्व का अतीत में खा दत शब्द
शब्द जो देते इश्वर को अभिव्यक्ति
आर थाडे हेर-फेर से सत्य को झुठलात शब्द
चलते चलते घिस जाते शब्द
पर मरन पर भा नहीं मरते शब्द
कभी सिर कटा
कभी पूँछ लगा
रूप का अरूप वना
ध्वनियों का वरगला
भापा का नाम वदल
उगते रहत हे शब्द।

पढा था –
वदिक साहित्य में
'जो व्यक्ति दखकर भी नहीं दखत शब्द

सुनकर भी नहीं सुनत शब्द
उन्ह कस अनुकूल वन शब्द ।'

ऐसे व्यक्ति ता –
ससदा विधानसभाआ म भी
– जनता मध्य भाषणा म ही नहीं –
फकते उछालत ताडते रहत हैं शब्द
शब्दों स खेलते हैं क्रिकेट टेनिस, फुटवाल ।
आर शब्दा क बीच रहकर भी
एस निकल जात ह –
जसे युद्ध के मदान में शवा क बीच स गुजरे ।

व क्या जान ?
प्रम की मधुरिया म चासनी वन पिघल जाते शब्द
स्मृतियों को अपनी गठरी म बाँधत जात हें शब्द
दादा-दादी की गाद में वठकर सीखे शब्द,
चूल्हे के धुएँ स काल हो माँ की आँखा से टपकते शब्द
कुडी खटखटाते भीख माँगत शब्द
धमस्थाना पर पडे बन मूर्ख बनाते शब्द
छनी से मूर्तिया म ढलते शब्द
बीज वन खता म उगते शब्द
श्रम स फक्टरिया में राशनी करत शब्द
गूँजते हैं ता ऋचा वन जाते शब्द,
महकते हें तो फूल वन जाते शब्द
कुछ शब्द चुप रहकर भी वहुत कुछ कह जाते हैं
आर लडते हैं तो शार बन जाते शब्द
मरहम भी वनते –
– हाहाकार भी वनते शब्द
सुबह को भरवी बन आरता जगाते शब्द
रात को मालकोस वन लोरियाँ सुनाते शब्द
धरती से सूर्य तक –

अखिल ब्रह्माड का गोदी म समेट शब्द
कागज पर कविता बन जाते शब्द
कभी निरा अराजकता भी फलाते शब्द
प्रतिध्वनि बन लौटते —
पहाडो, घाटियो जगलों से शब्द
कभी कभी अपनी दूकान समेट लेते शब्द
और तब निष्प्रयोजन निरथक बन जाते शब्द ।

इनमें स कौन स शब्द चुन —
— तुम्हें पत्र लिखूँ ?
या केवल खामोश रहकर
अतर के शब्दों को —
— हृदय की धडकनों के समान
तुम्हारी कल्पना पर सब कुछ छोड दूँ ।
22 6 97

कागज का टुकडा

कागज का एक छोटा सा टुकडा
पता नहीं कहाँ से उडता उडता
कमर की खिडकी को पार कर —
मेज पर आ पडा ।
फेकने का उठाने पें दिखी लिखावट
केवल एक शब्द था —
'प्यार' । । ।

क्या करूँ अब ? —
सिहर उठा में ।
कोमल स दिखते उस एक शब्द ने
झकझार दिया मरा पूरा व्यक्तित्व ।

कितना कितनी स्मृतियाँ जीवित हो उठी
विभिन्न रगो रूपा स्पर्शो ध्वनियों को करती साकार।
पूरे जीवन का लेखा-जोखा
सम्पूर्ण अतीत,
केसे कर समा रखा था इस एक शब्द ने।
पत्रों के वडलो में बँधा यह शब्द
मेरे वक के लॉकर में आज भी बद ह।
क्या तुम जला पाये, भुला पाये होगे यह शब्द ?

क्या करूँ इस टुकड का ?
लगता है आज किसी आर को भी विवश होकर
फाड डालने पड हें अपने प्रेमपत्र।
छोटे छोटे टुकडों म बँटा किसी के प्रेम का सम्पूर्ण व्यक्तित्व
अपने दद अपने रदन अपनी विकलता का छिपाने में असमथ होकर
इधर उधर बिखर उड रहा, दाड रहा है।

किसी के मधुर स्वप्नों के प्रतीक इस टुक्डे को
कल में अपने बेंक-लॉकर में —
अपने पत्रों के साथ रख दूँगा।

मानता हूँ यह पत्राश मेरा नहीं है
न ही यह मुझे लिखा गया ह।
पर 'प्यार' लिखे कागज को
यूँही सडकों पर भटकने के लिए भी तो
नहीं छोड सकता।
मेरे वेक-लॉकर मे कम से कम इसे —
अपने कुछ सगी-साथी तो मिल ही जायेंगे।
24 6 97

शाश्वत लीला

शयनखण्ड के सामने लगे अनार-वृक्ष पर
सूय के स्वागत गान की स्पधा म तल्लान चिडियें
प्रात एलाम का काम करती ह ।
आसपास के पाधा पर मँडराती तितलियाँ
फूलो पर पर जमाकर बठने का
असफल प्रयास करती रहती हें ।
उनक इन्द्रधनुपी पखा की वीणा से निकलते
भरवी के स्वर
कवल फूला को ही माहित नहीं करत
बल्कि कलियों को अपना लज्जा का सूक्ष्म आवरण हयकर
खिलखिलान को विवश जसा कर दत हें ।
चारो आर फल जाता हे एक मादक परिवेश
आर रूप रस गध ध्वनि स्पश का यह खल
अतीत के आवग्ण को चीर
मेर मन का —
विस्मृतिया क काहरे में भटकान लगता ह ।

नितली की फूला को रिझाने की क्रीडा
सृष्टि क हर क्षेत्र म
अनवरत चल रही ह
प्रकृति की शाश्वत नश्वरता
पात्र वदल बदल कर
अपने का दोहराती रही ह ।
24 6 97

मौन

कान तोडे मान ?
मान जो एक घाव मा इतना रिसा ह
दश के पद्चिह्न अकित हो गए हें
मान जा श्रद्धा से लेकर
अहम् म चकचूर फेला ह इडा तक —
एक सीमाहीन अतर को समेट ,
मान एसी ध्वनि —
बनाए शब्द को जड
बन चुक इतिहास अब झुठलाये कान ?
कान ताड मान ?
मान जा जलजात की नालों सा उलझा
मूल में जा द्वन्द्व, बाहर कब ह दिखता ?
दृष्टि में स्पश म परिवश म —
गूँजती जिसकी व्यथा स्वरहीन होकर
कोहरे सा आवरण इसका विपला
बात के आकार धुँधले मन कसला
सगीतमय रसधार लाए कान ?
अहम् का पवत हटाए कौन ?
कान ताडे मान ?
2 8 97

सस्कृति

अब हम सस्कृति
जाने की कुछ करने की
— अनुकरण ही सही —
कोइ जरूरत नहीं ।

सस्कति वन चुकी ह एक शव
शोधकताओं द्वारा पाम्टमार्टम कर
महा शोध-प्रवध लिखने के लिए।
वह हम में नहीं
हमारी भी नहीं,
इतिहास की वस्तु बन चुकी ह!
जसे हमने –
देवताओं को मदिरों म सजा
घरो से मनों से निष्कापित कर दिया ह।
कुछ देर को जा आते हैं उनके पास
अस्पताल में जसे किसी मरीज का दखने।
वहाँ भी –
उनका हाल पूछने की जगह
भीख माँगते या अपनी समस्याय दोहराते रहते हैं।
इसी तरह सस्कृति भी
अजायबघरो में सजा दी गई ह
ऐतिहासिक अस्त्रो-शस्त्रों आर ममियो के वीच।
अनेक स्थलों पर उसे खडहरों के रूप में
जैसे का तसा ही छाड दिया गया हे।
दूर दूर से आने ह पर्यटक स्कूला के बच्च
टिकट खरीदकर
अपने पूवजा की धराहर के दशन करने।
कला दशन आर धम –
सभी तो बन गए ह 'विपय',
वाद-विवाद करन
आर थीसिस एन्टीथीमिस लिखने के।
हमारी सस्कृति –
हमारे ही जीवन का अग नहीं रही।
वैसे वडा गारव ह हमें
अपने पूवजों द्वारा मिले उत्तराधिकार पर
जिसकी सुरक्षा क लिए

हम विदेशी सम्कृतिया का सुनहरा मुलम्मा
उस पर चढाते रहत ह, चढाते रहे ह।
यहाँ तक कि —
अत्र उसका वास्तविक रूप पुस्तकों म रह गया है।
कुछ लोग ता यहाँ तक कहते हें —
सस्कृति हे क्या ? — एक समूहवाचक क्ल्पना।
इससे न तो अर्थलाभ हाता हे
और न ही देश को कोई समस्या ही दूर।
मुझ भी गर्व हे अपनी सस्कृति पर
बडी पुरातन है यह।
आजकल में नियमित रूप स इस —
टी वी की विदेशी चेनला द्वारा देखता हूँ।
अपने सभी अवशेषा के साथ
अजायबघर में ममी के पडोम में सोई सस्कृति
कहीं जाग न जाये ?
इसीलिए हम सभी वुद्धिजीवी
सास्कृतिक मूल्या के अवमूल्यन का
पर्दाफाश करते रहते हें।
26 8 97

सस्कृति निर्माण

कभी साचा ह ?
कव तक चल पाओगे —
जड हो चुक इतिहास की वसाखियों क सहारे।
तुम स्वय स्वतत्र रूप से
ऐसा कुछ क्यो नहीं करते
जोकि भविष्य —
तुम्हें इतिहास वना
गारव ले सके अपन अतीत पर।
दुनिया कहती हैं

हमारी मस्कृति भव्य थी महान था
रहा हागी ?
मेंने ता दखी नहीं
आर आज भी अपन चारा आर —
किसी क विचार या व्यवहार मे
उसकी झलक तक नहीं पाता।
भव्य और महान वस्तुएँ
पूज्यनीय होती हे बस।
मरे पूजाघर में राम ह कृष्ण हें गणश हें लक्ष्मी है
आर भा बहुत मार दवी-दवता हें
पर सस्कृति कहीं नहीं मिली।
आर व मत्र भी अत्याधुनिक होत जा रह ह।
वस्त्राभूषण हा या खानपान
उनका भजन-कीतन भा फिल्मी धुना पर ही हाता है।
हमार अनक अभिनता अभिनत्री
उनका स्वाँग भा भरत ह —
रुपहल परद पर चमकन आर अर्थापाजन क लिए।
अपनी भव्य सस्कृति के विषय में जो पढता हूँ
उसे सच मान लता हूँ।
पुस्तकों म काइ झूठ क्यो लिखेगा ?
यह आर बात ह कि
मेंने पुस्तका में जा कुछ भी पढा
वह सिवाय द्रव्य कमान के साधन क
आर किसी काम नहीं आया।
न ता वह शरीर को निरागी रख पाया
आर न ही द पाया मन का शाति।
फिर भी लोग कहत ह ता —
मान लता हूँ।
मुश्किल यह है कि साचता भी हूँ ?
कब तक लगाया जाता रहेगा
खडहरो पर पलस्तर ?
हम यह भी नहीं साचत कि व कब बन थ ?
तब ता मनुष्य क पास इतन साधन नहीं थे

फिर भी व वना गए एमा कुछ
कि हम गारव ल मक।
आर आज –
विज्ञान न क्या नहीं दिया ?
सुविधाआ का अवार
आर हम क्यों नहीं कर पात कुछ ऐसा ?
जो पिरामिडों आर ताजमहल से महान हा।
वदरिया क मरे वच्चे स माँ के वदन मे चिपक
पुरातात्विक महत्त्व के दशनीय अवशेपो का छाड
क्यों न हम कुछ ऐसा वनाय
जिसमें मनुष्य रह भी मक
और गव भी कर सके अपनी कलाकृति पर।
चद्र-मगल पर पहुँचन की जगह
क्यों न इस पृथ्वी पर ही कुछ ऐसा कर
जो कि इस भूमि को ही
आनाशगगा की तरह जगमगा द
आर इद्रधनुपी रगा सा मुस्काय।
प्राचानता और भव्यता की चकाचाध स
आँखें मीचन से –
मानसिक मताप का छलावा
हमें अपग बना रहा ह।
अतात के काल्पनिक सुखद सपना से जाग
वतमान में लाय
और भर दा भाडार
श्रम की कला-कृतिया से।
छून दा आकाश –
एक नइ वास्तविकता पर रची सस्कृति क शिखरों को।
इतिहाम में न जी इतिहाम वना जाआ
जिसकी ऊजा भविष्य की पीढियों को
नइ चेतना स उत्क्रात कर मक।
29 8 97

धुँधले अक्षर

लॉन म बठ रातरानी को निरखते
तुम्हारे साथ जुडी यादा क पन्ने
नभ में उडती वकपक्तियों की भाँति
अतीत की दूरियाँ तय करते हुए
फडफडा उठे हें।

मुझे याद हे –
इसी तरह महमहाया करती थीं तुम भी
– सारी सारी रात
आर तरा करती थीं कक्ष में –
- मालकौंस की स्वरावलियाँ।
दिा म तुम्ह देखन सुनने का
– समय ही कहाँ मिलता था ?
– इस महानगरीय जीवन में।
झुटपुटे स रात तक –
कभी पदल कभी बस
कभी ट्राम कभी लोकल में
चढते उतरते दौडत भागते
जीवनयापन की सुविधाओं की जुगाड में
निकल जाता था दिन
– निकल गया पूरा योवन
निकल गया पूरा जीवन। –

पर फिर भी –
दिन भर की गर्द झाड देती था
लाटने पर चाय की प्याली के माथ मिली
तुम्हारी मुस्कान।

– आर अगा का पुलक।
खिल उठती थी पाकर

अँधेरों की चाँदनी म धुली –
तुम्हारी महक ।

आज फिर से इस रातरानी के पास लॉन में बठ
मन भर आया ह ।
बगुलों की पंक्तियाँ दूर होती जा रही हें
और धुँधियाते जा रहे ह –
यादों के पृष्ठ ।
मुझे डर है कहीं
मर दो-चार बूँद आँसू
उन पर लिखे हरफों को
छितरा न द अतीत म ।
8 9 97

तलाश

मेरा प्रबुद्ध मन
असभव को ही तलाशता रहा ।

दखना चाहता था उस
जो स्वय अपना शव
अपने कधों पर उठाये
श्मशान जा रहा हो ।
मिलना चाहता था उस व्यक्ति से
जो जीवन भर झूठ बोलकर भी
एक बार सच सच कह दे
कि हाँ मेंने झूठ बोला था ।

सुनना चाहता था
एक ऐसे नेता का भाषण
जा वाणीविलास के स्थान पर
सेवाभावी कर्मों क माध्यम से

मान की भाषा म बतियाता हो।

छूना चाहता था उस पार्थिव सौन्दय को —
जो चाँदनी सा शीतल
हवा सा कोमल
धूप सा उज्ज्वल
सुगध सा निमल
हास्य सा निश्छल
प्रात -सगीत सा आह्लादक
जीवन-सरोवर का शतदल हो।

कहना चाहता था किसी को
अपना सिफ अपना
और अपना।

पर कुछ न हुआ।
कराहती रही आत्मा
इस शरीर द्वारा किए
मन द्वारा सोचे
गुनाहो के बोझ तले।
16 9 97

युद्ध

युद्ध —
केवल कुरुक्षेत्रो म ही नहीं होते।
युद्ध तो चलता रहता ह
हृदय की हर धडकन के समान
घर-बाहर, मन-शरीर गली-सडक।
हमारे चाहने न चाहने से
कब रुक पाया है यह समुद्रमथन।

ग्रह टकराते हैं
नीहारिकायें टूटती हैं
तारकण बिखरते हैं
यही सातत्य है ब्रह्मांड का।
बनना-बिगडना
फिर बनना और फिर बिगडना।
नाश-निर्माण का अनन्त क्रम —
रूप परिवर्तन।
जन्म के साथ
शरीर का प्रत्येक अंग
इस युद्ध में जुड जाता है
और दोहराता रहता है मन गीता का महामंत्र —
लडो! लडे बिना छुटकारा नहीं है।
नहीं रोक पाओगे तुम उनका विनाश
जो निरुपाय हैं उस एक क्षण के सामने
जो पूर्व-निश्चित है।

सोचना चाहते हो तो सोचो
जितना चाहे सोचो
क्योंकि तुम्हारा सोचना भी पूर्व-निश्चित है।
तुम सोचते हो कि सोचने से
मन की धार पैनी होती है?
विवेक और अविवेक —
दोनों ही जागृत होते हैं!
पर सोते समय भी —
हृदय का धडकना और मन का बहकना
बंद तो नहीं होता?
न ही बन्द होता है वह युद्ध
जो शरीर के हर कोश की मजबूरी है
मरना मारना नए पैदा करना।
हम मन ही मन

कितनों की हत्यायें सोचते हैं और करते भी
क्या कोई जान पाता है उसे ?
और जानेगा भी कैसे ?
हम कब किसी के थे
— या रहेंगे ?
जो हमें कोई जानें ।
हम अपने मन को भी कब जान पाये हैं ?
वास्तव में हम नहीं
हमारा मन ही स्वतत्र रहा है जन्म से ।

इस युद्ध में हमें जिसने भी धकेला है
हम उसे भी नहीं जानते ।
फिर भी बडे गर्व से अपनी अपनी
हार-जीत का बखान करते हे
सभी श्रेय अपने अपने 'मैं' को देकर —
अपने उस अज्ञानी अहम् की तुष्टि करते हैं
जो आज तक के सभी युद्धों का विनाश का,
एक मात्र कारण रहा है ।

युद्ध —
हम रोक भी नहीं सकते
क्योंकि हम ही नहीं हैं अकेले अहम्वाले,
'मैं' 'मैं' करनेवाले ।
वैसे युद्ध के लिए किसी कारण की भी
आवश्यकता नहीं होती ।
क्योंकि हमने उसे धर्म के साथ जोड दिया है
किसी न किसी पक्ष के लिए तो वह
धर्मयुद्ध ही होता है ।
चाहे वह मन में हो, शरीर में या कुरूक्षेत्र में ।

प्राणी के जन्म के साथ
कार्य-कारण की शृखला

चलती ही रहती है
चलती ही रहेगी भी।
इसीलिए महायुद्ध का कारण
क्लियोपेट्रा भी हो सकती है
हेलेन, सीता, द्रौपदी भी।
ये नहीं तो फिर —
किसी का रंग
किसी का धर्म,
किसी की आस्था,
किसी का प्रदेश,
किसी की सम्पन्नता,
किसी का लम्बा होना
कुछ भी हो सकता है ?
पाचजन्य फुँकता ही रहता है —
फुँकता ही रहेगा भी।
जब तक जीव, जीव का भोजन है
विनाश का कारण है
युद्ध चलता रहेगा।
कहीं बाहर,
कहीं अंदर,
अपने तथा अपनों के -
विनाशकारी विचारों का।
16 9 97

वेदान्त

वे बोले —
'यह सब सपना है'—
और जिस प्रकार सपने में
सब ऊलजलूल होता है,
घटनाओं का कोई तारतम्य नहीं होता
प्रश्नों के उत्तर
 - मिलकर भी नहीं मिलते
सभी कुछ अनिश्चित होता है
वैसा ही भासता यह जीवन है।

यही सारतत्व है मर सम्पूण शास्त्रज्ञान का।

मैंने कहा गुरू —
यदि आपका ज्ञान सही है
मैं और आप
एक विराट सपने का भाग हैं
यानी हम और आप
हैं भी और नहीं भी
तो फिर आपका ज्ञान भी निष्कर्ष भी
इस सपने की ही देन है।
और सपने में प्राप्त ज्ञान
सपने से बडी छलना है।
सपने में पढे शास्त्र
सपने जैसे निष्कर्ष पर ही पहुँचा सकते है।
आपने अपने जीवन-सपने का अधिकाश भाग
स्वप्नशास्त्र पढकर व्यर्थ ही गँवाया है।
जो नहीं ह उसी की खोज में आपने
अपना एक सम्पूर्ण सपना गँवाया है।
फिर भी माने लेता हूँ कि
यह सब एक सपना है
तो फिर क्या सपने में भी
मुझे सुखी होने का
क्षणिक आनन्द की अनुभूति करने का
आत्मिक सवेदनाओं के मधुर सस्पर्श का
कोई अधिकार नहीं है ?
18 9 97

आत्मदर्शन

'मैं नहीं हूँ'—
कितनी बार बतलाओगे तुम ?
मैं तो शुरू से ही
यह मानकर चल रहा हूँ
कि मैं नहीं हूँ।

पर क्या मुझे इतना भी अधिकार नहीं
कि मैं —
जो नहीं हूँ।
होकर दिखाऊँ।
कम से कम होने की
चेष्टा ही करूँ।
कर सकूँ संघर्ष
न होकर भी
होने के लिए।
18 9 97

खंडहर में

स्मृतियों के खंडहरों में भटककर
स्वयं को खोज रहा हूँ।

कल्पना के नेत्रों से देखता हूँ वह स्थल
जिसे किसी ने मेरा जन्मस्थान बताया था
और जहाँ मुझसे पूछे बिना
मेरी वह संज्ञा निश्चित कर दी गई —
जिसका बोझ मुझे जीवन भर ढोना है।
लोग बताते हैं
और आज मैं स्वयं भी दूसरों को।

शिशु से बालक बन
किसी का पुत्र, किसी का पौत्र
किसी का कुछ, किसी का कुछ
और इसप्रकार धीरे धीरे
कहीं शिष्य कहीं मित्र बन
एक दिन पति भी बन गया।
एक ही चोले में अनेक स्वाँग भरता रहा।

जन्म लेने का ऋण चुकाने
दूसरों को जन्म देने का निमित्त।
और यह सिलसिला टूटने की जगह —
बढता ही गया।
हर नए सदर्भ के साथ
मैं किसी न किसी रिश्ते में
व्यक्तिवाचक सज्ञा से
जातिवाचक सज्ञाओं तक
घसीटा जाता रहा।

और इन सब में 'मैं' स्वय कहाँ था ? —
कभी जान ही न पाया।
कभी भी किसी न
यहाँ तक कि किसी गुरू ने भी कभी
यह नहीं बताया कि
'यह तुम हो । सिर्फ तुम'
— इसे सभालकर जियो।

आज भी इसी विषचक्र में फँसा मैं
स्वय को खोजता
भटक रहा हूँ शृखलाबद्ध भँवरजालों में।
18 9 97

क्या हो ?

बुद्धिजीवी हो ?
घडी की सुई पर खाते पीते सोते
यत्रों से घिरे
यत्रों पर निर्भर
बुद्धि के क्रमिक विनाश के वाहक

यत्रजीवी हो ?
यत्र ही हो ?

विवेकहीन यत्र ?
शाश्वत-सत्य की व्याख्या कर पायेगा क्या ?
या कर पायेगा अतर —
हिंसा-अहिंसा, दया क्षमा, ममता, करुणा में।
दे सकेगा ऊष्मा ?
जीवन के सबधों को
वह तो जानेगा सिर्फ
नारी को नारी,
माँ, बहन मित्र, प्रेयसि, पत्नी नहीं।
पुरुष को पुरुष
पिता, भाई, प्रेमी पति या पुत्र नहीं।
वह रिश्तों को नाम नहीं —
नम्बर ही दे पायेगा।
और फिर एक दिन
हिमयुग से भी शीतल
यत्रयुग आयेगा।
मनुष्य की पूछ की तरह —
उसका मस्तिष्क भी घिस-पुँछ जायेगा।
रोक सकोगे उसे ?
सोच लो —
बुद्धिजीवी ही हो तो।
18 9 97

त्रिशकु

शुरूआत ही गलत हुई
मुझे कभी सोचने ही नहीं दिया गया।

वचपन में खिलौन दकर
आर विद्यार्थी-जीवन में सपने
मुझे बहलाया, वहकाया गया।

और सपने भी कसे ?—
कोरे बोदे खोखले सपने
यथार्थ से कोसों दूर।
और फिर जवानी में ही
जन्म से मोक्ष तक के
जीवन से असबंधित
दार्शनिक तर्कजाल में उलझाया गया।
क्या करना चाहिये और क्या नहीं के —
पोस्टरी उपदेशों से
पुस्तकों के आकर्षक बाहरी आवरणा से
भरमाया गया।
सभी कुछ अपने हाथों म नियंत्रित कर
कर्म करने के अधिकार के नारे की बीन पर
नचाया गया।
वास्तव में तो मुझे कभी कुछ
करने ही कहाँ दिया गया ?
सभव ही कहाँ होता है यहाँ कभी कुछ कर पाना ?
कर पाने के भ्रम के सिवा।
जीवन जीना भी नहीं सिखाया गया मुझे!
आर यदि मैंने स्वय कभी चष्टा भी की तो
कभी इधर से, कभी उधर से
कभी इतिहास के, कभी धर्मग्रन्थों के
कभी कर्तव्य के कभी मानवतावाद के
धक्के मार मारकर
यहाँ से वहाँ भटकाया गया।
बस! ढोता रहा हूँ मैं —
अपने होने का बोझ।

क्योकि जो पढा —
वह समझ नहीं पाया ।
और जो समझा —
वह कर नहीं पाया ।
एक प्रश्नचिह्न सा जन्मा
सपाट बिन्दुओं सा जिया
और अकारण ही घिसटता रहा
पूर्ण विरामचिह्न की ओर ।

सत्य तो बहुत बडी बात है
यथार्थ को भी कहाँ समझ पाया मैं ?
कभी कभी उसके निकट जा जाकर
लौट लौट आया ।
और अब —
किसी सौरमडल के ग्रह के समान
एक दूसरे के आकर्पण-विकर्पण में
त्रिशकु बना लटक रहा हूँ मैं ।
19 9 97

प्रेम

हर नदी भागीरथी नहीं होती
और न ही उसका उद्गम गगोत्री
पर जल सभी में होता है
वरसाती नदियों को छोडकर ।

ऐसी नदियाँ उन व्यक्तियों सी होती हैं
जो एक कान से सुन दूसरे से निकाल देते हैं ।
य भी बरसात में वही करती हें ।
और बाकी साल भर —

कीचड रेत सडते-सूखते गड्ढों से भरी होती है ।
वास्तव में जल ही नदी को नदी बनाता है
उसके बिना नदी का प्रवाह, यौवन कहाँ ?

प्रवाह ही जीवन होता है ।
और जीवन का जल-प्रवाह हाता है प्रेम ।
प्रेम अर्थात् आत्मा का सगीत,
पक्षियों का कलरव,
पुष्प-पराग सौरभ
जीवन करता सुवाससिक्त
दृष्टि को सान्दर्ययुक्त
मन को प्रफुल्लित
स्पर्श को मादक ।
ओंठों पर स्मित का प्रकाश
और रोम रोम मे खिलखिलाहट –
— उसी से आती है ।
कब कहाँ क्यों और कैसे का —
आ जाता है अत ।
अलौकिक आह्लाद की रश्मियाँ
बिखर जाती हैं चारों ओर
और इस प्रवाह में तैरना
आकाश में उडते पक्षी सा मुक्त होता है ।
जीवन को भयमुक्त करता है प्रेम ।
आशाओं के झूले पैंगें भारते हैं उसमें
अस्तित्व की सार्थकता का
बोध कराता है प्रेम ।
यदि वह प्रेम ही है तो ।
अपेक्षाहीन
जड, चेतन के किसी भी लघु, विराट स्वार्थ से मुक्त ।
19 9 97

विवशता

मुझे क्या पता था कि मेरा जन्म होगा ?
कब, किसने पूछा था मुझसे, जन्म मे पहले ?
किसी ने आभास तक नहीं दिया
बताना तो दूर कि तुम जन्मोगे ।
बस ! हो गया जन्म ।

पता नही —
किसको, कौन सी मजबूरी थी ?
किसका सकेत था, किसकी मर्जी थी
कि मेरा जन्म हुआ
और वह भी इस सारी व्यवस्था में —
मेरी सम्पूर्ण तटस्थता के साथ ।

मकडी के जालों से तन्तुओं में लपेट
दे दिया गया मुझे जन्म
ऐमा नहीं है कि मैंने प्रतिवाद नहीं किया
काफी चीखा चिल्लाया, नारे भी लगाए
नगारखाने में तूती की आवाज की तरह
यहाँ कब किसने किसी की सुनी है ?
जो मेरी सुनता ।

मैं हुआ !
जिस होन में मेरा कोई हाथ नहीं था ।
और घेर लिया गया अनेक विषचक्रों की सज्ञाओं से
जाति की धर्म की, स्थान की, भाषा की
सबधों और नित नए सदर्भों की ।

फिर मुझसे कहा गया
— ये सब तोड दो ।

य सभी वाड अराष्ट्रीय हे।
जैसे य सब मैंन ही बनाय हों ?
और मेरा जन्म राष्ट्रीय हो।

आर इसी तरह हो जायगी मृत्यु।
मुझसे पूछे बिना
बिना बताये या समझाये।
किसी भी क्षण —
सरका दिया जाऊँगा अनत में
उस असीम मे जहाँ से मुझे लाया गया था।

वह भी एक रहस्य ही रहगा
तुम्हें बताने नहीं आ सकूँगा मैं।
कसा छलावा है यह ?
अपने लयात्मक स्वरूप से पहले
खोज रहा हूँ ऐसे सतों को
जिन्हें अपने जन्म-समय क सुख-दुख के अहसास का
कुछ तो स्मरण हो।
क्योंकि मृत्यु को चिर-शाति
या चिर-वेदना की कथा कहने —
कब लौटा है कोई ?
20 9 97

भीड की आवाज

मत पढो इन्हें —
ये शब्द नहीं हें।
इनका एक एक अक्षर
तात्रिक द्वारा फूँके गए
उडद के दानों के समान हे।

ये बदल देंगे तुम्हें
अपने स्वय के व्यक्तित्व से हाथ धो बैठोगे तुम ।

मत पढो इन्हें —
ये शब्द नहीं हैं ;
तुम्हारे अस्तित्व का भान करानेवाले
बीजमत्र हैं ।
इन्हें पढकर नकार नहीं सकोगे तुम
जीवन-सत्य को ।

मान लिया तुम निर्वस्त्र रह सकते हो
कोई छत भी नहीं चाहिए तुम्हें
— जिन्दा रहने को ।
पर भूख का क्या करोगे ?
और भूख भी —
क्या एक किस्म की होती है ?
नकार सकोगे तुम इस यथार्थ को ?
दूसरों की नहीं —
क्या केवल अपनी ही भूख मिटाने में -
तुम समर्थ हो सके हो ?
और तब प्रश्न उठेंगे
मुँह बाए सामने खडे हो जायेंगे
तुम बगलें झाँकोगे
मगर कोई हल नहीं मिलेगा ।

काश ! मीठे, नमकीन तीखे
— आक्रोशयुक्त कडवे —
भाषणों से भूख मिट सकती ?
नारों को चुनकर —
बन सकते मकान ?
झडों को नाप-काटकर —

ढँक जा सकते सभी के तन
संविधान में दिए अधिकारों में —
हो जाते सभी शिक्षित और सुखी ?

देखा न —
बात कहाँ से शुरू होकर
कहाँ पहुँच गई ?
जमीन से बँधे पाँव
उसी की बात लिखेंगे न ?
इसीलिए कहता हूँ कि
पढ़ना बंद करो !
पढ़ोगे तो —
सोचोगे भी !
सोचोगे तो कभी न कभी
यथार्थ का भयावना चेहरा
- पहचानने भी लगोगे।
और व्यर्थ ही बैठे बिठाये —
दु खी हो जाओगे।

अच्छा यही है —
मत पढ़ो कुछ
मत सुनो कुछ
बोलने का तो सवाल ही नहीं है।
यदि बोलना चाहते ही हो तो
भीड़ में घुस जाओ
और भीड़ जो भी नारा लगा रही हो
तुम भी लगाओ।
आखिर जनतंत्र है न ?
भीड़ की आवाज ही जनतंत्र का नेतृत्व करती है।
20 9 97

इच्छायें

मेरी इच्छायें अदृश्य पख बाँध
कहाँ कहाँ नहीं उडीं ।

कभी तितली बन
फूलों की रगत में ऐसी खो गईं कि
काँटों से छिदे परों को —
फैलाती, समेटती, सिसकती रहीं ।
कभी वत्तखें बन
गरदनें उठाकर शाही ठाठ से
झूमती चलीं,
और किसी उत्सव की खुशी में
नोची जाकर पक कर —
किसी के खाने की मेज की शोभा बनीं ।
कभी बिजली बन कौंधीं
तोड दिये बर्फीले उत्तुग शिखर
फिर नदी बन बह चलीं ।
पर वास्तव में तो
मेरे व्यक्तित्व को खड खड कर
— बिखराती चली गईं ।
कभी बादल बन दौडने लगीं
अपने को मिटा धरा को सींचने ।
कब वश में रहीं ये मेरे ?
बुद्धि की आँखों पर पट्टी बाँध
मुझे भटकाया है इन इच्छाओं ने
और ज्यादातर पूरी न होने पर
लाल-पीले अगारों सा जलाया भी है ।
भागता रहा हूँ जीवन भर
शो रूम में सजी इन सुन्दरियों के पीछे ।
मेरी अन्तहीन इच्छायें

पता नहीं मुझे कहाँ कहाँ टकरायगी ?
दिशाहीन, लक्ष्यहीन
वेलगाम घोडियों सी दौडतीं भागतीं
ब्रह्माड का सुख पाकर भी
सतुष्ट नहीं होगी ।
क्योंकि इन्होने
उसकी प्रसव-पीडा नहीं भोगी ।
20 9 97

सुरग

एक लम्बी सुरग
हम तुम में से होकर जा रही ह ।
अनेक शताब्दियों को
इस सुरग में से गुजरना है ।
सोचो
समझो
और उस महत्त्वपूर्ण मार्ग का
एक भाग होने का अभिमान करो ।
तुम अपने को
अकेला मत समझा ।
न कभी अपना
एक दम स्वतत्र
अस्तित्व सिद्ध करने का प्रयत्न करो ।
याद करो
तुम स्वय भी कभी
इस सुरग में कहीं
अनेक अस्तित्वों के रास्तों से गुजर
यहाँ तक पहुँचे हो ।
26 9 97

मैं जहाँ बैठा हूँ

मैं जहाँ बैठा हूँ वह
पिरामिड का शिखर ह या ज्वालामुखी का
मैं नहीं जानता ?
यह इमारत मैंने नहीं बनवाइ
न ही इसका नक्शा।
इसके उपयोग में आई किसी सामग्री म भी
मेरा कोई योगदान नही रहा।
यही क्यों —
मैं यहाँ तक कस पहुँचा ?
वह भी आज याद नहीं।
मेरे चारों आर —
एक विराट अवकाश है
ऊपर अतरिक्ष
जिसमें मँडरा रही हैं —
अन्तहीन प्रतीक्षा की चीलें।
वैसे मे जानता हूँ —
मे ही कभी मनु था !
प्रलय के ताडवों को चीर
सघप का वज्र घुमाता
शखनाद करता
विजयी बनकर निकला मनु।
आज भी सज्ञा तो वही हो ह
पर वज्र की मार से बोझिल
ढीले पड गये हैं स्नायु
और मेरा शखनाद —
मुझ ही भयभीत करने लगा है।
वैसे किसी नई प्रलय का सकेत देने
कोई बादल नहीं है दूर दूर तक।
वैसे मैं साचता हूँ —

म जहाँ बठा हूँ वह स्थान
यदि ज्वालामुखी होता
तो मेरे चारों ओर
भय का निस्सीम साम्राज्य होता।
आर यदि पिरामिड का शिखर होता तो
मृत्यु की छाया इधर उधर
अवश्य ही मँडरा रही होती
जिसक साथ साथ चलता होता आश्चर्य।
पर यहाँ तो –
बाकी है केवल
शब्दहीन गन्धहीन ध्वनिहीन अतहीन
– ऊष्माहीन प्रतीक्षा।।।
कहाँ बठा हूँ में ?
26 9 97

स्फिक्स

नारी का शीश
सिंह का धड
और विशाल पख –
'स्फिक्स'।।।
यूनानी राक्षस का पुतला
बुद्धि-कुबुद्धि भाडार।
पूछा करता था पहेलीनुमा प्रश्न
अमीर खुसरो या भारतेन्दु जैसी नहीं
जिनके उत्तर, उन्हीं में छिपे होते हैं।
वह तो पूछता था अज्ञात भूत और भविष्य के –
सत्य की अस्तित्वता
अस्तित्व की अनित्यता सबधी प्रश्न।
ग्रह-नक्षत्रों के शाश्वत प्रभाव में विचरते

क्षुद्र कीटको जैसे मानव समुदाय की
बुद्धि विज्ञान की खिल्ली उडानवाले प्रश्न।
मे नहीं कह रहा —
इतिहासकार कहते हें।

मेंने तो सोचा था कि इतिहास
कुछ समस्यायें सुलझाने में मदद देगा
पर नहीं —
इतिहासों में छिपे हैं अनुत्तरित प्रश्नों के
— अनेक शब्दकोश
जिनके अनेक शब्दों के भूचाल
आत्मा तक उडा देना चाहते हैं।
इन शब्दों की व्याख्या में छिपे
अनक नरककाल
हमारे भविष्य का रूप
आज ही दिखाना चाहते हैं।
इतिहासकार और पाठक
नरककालों से भरी इन गलियों से
निस्पृह बन कैसे गुजर जाते हैं ?
स्फिक्स के अतर में कहीं
देवमूर्ति विद्यमान है
जिसके शिल्प की एक एक सिलवट
मर्त्य-जीवन में छिपे शाश्वत सौन्दर्य क दर्शन
इन प्रश्नों के माध्यम से कराती हैं —
'साधारण, असाधारण हो सकता है
असाधारण साधारण नहीं।'
मर्त्य को अमरत्व की चाह है
अमर को मर्तत्व की नहीं।
26-9 97

चेतन शिल्प

तुमने गढीं ये मूर्तियाँ
आर शिलाओं ने बनाया तुम्हे शिल्पकार।
तुम्हारे पास बैठ
हथाडे को खट खट, छेनी की छौं छौं
तुम्हार श्वासों को धोकनी
उभरे हुए स्नायुओं की नीलो नसा म —
रक्त का तीव्र सचालन,
माथे की सलवट्य में
असख्य दुदम्य कामनाओं का घपण
मैंने देखा सुना है।
तुम्हारा सृष्टिकार होने का अभिमान
वातावरण को बोझिल किए रहता है।
आर कुछ समय बाद
तुम थक कर
माथे का पसीना पोंछ
जब इन्हीं में स किसी के चरणो के सान्निध्य म
थकान मिटान लेट जात हो
तो कोई अदृश्य शक्ति
वातावरण के कण कण को महका जाती है।
तुम्हार सा जाने पर
हर मूर्ति धार धीर चतना सम्पन्न हो जाग उठती है।
किसी क ओंठों पर तुम्हारे अज्ञान के लिए
विद्रूपता की झलक छलकती है
तो कोई कर उठती है अट्टहास।
प्रस्तर के वस्त्रों को उतार
जिसे बनाया तुमने नर्तकी
वह अपन का उवशी समझ
नृत्य कर उठती है।
और आँखे फाड फाडकर देखता रहता हूँ मैं।

नृत्य की भाव मुद्राओं आर लास्य म
सृष्टि के खुलते तिरोहित हात
— अनन्त रहस्या को।
जिसप्रकार मनुष्य को जन्म दकर
सृष्टिकार ने अपना ही अस्तित्व सिद्ध किया ह
वही कार्य करती हैं ये मूर्तियाँ।
चरणों में पड शिल्पकार का वे
मातृ-वात्सल्यपूण कोमल करों से थपथपाती भी हैं
जिनसे झरता रहता हैं एक दिव्य प्रकाश।
तुम्हारे पलक खोलत ही
अदृश्य हा जाता है वह दिव्य रूपक।
परन्तु एक अन्य सत्य कण कण म निखर उठता है
जडता म छिपा चेतन
चेतन की जडता स दीघजीवी होता है।
इन मूर्तियों क सान्निध्य म
जिस असीम शाति का बाध होता है
उसकी अभिव्यक्ति शब्दातीत ह।
मन की कुटिलता का तार तार
छिन्न भिन्न हा जाता है।
दिव्यानद के अमृतमय झरने
नस नस में फूटने लगते हैं।
जड मूर्तियों की एकाग्र दृष्टि के याग से
खुलने लगते हैं आदि-अत क —
ज्ञान-विज्ञान क —
सृष्टि-ब्रह्माड के —
सूक्ष्म से सूक्ष्म रहस्य।
बस।
जडता की एकाग्र दृष्टि से
दृष्टि मिलाने की क्षमता चाहिये।
27 9 97

अपरिवर्तनीय

कुछ नहीं बदलता
रूप रग, आकार के अतिरिक्त
तत्त्व वही का वही रहता है
अस्तित्व भी कह सकते हें उसे ।

आकाश का बोझ पृथ्वी ढोती है
और पृथ्वी का आकाश !
फिर 'न होने का प्रश्न' उठाकर
भ्रातियों की भूलभुलइयों में भटकना क्यों ?
यह जरूरी नहीं कि जो 'है'
वह सभी-कुछ हमें दिखाई भी दे !
जो दिखाई नहीं देता वह नहीं है ?
इसका प्रमाण क्या ?
और जा दिखाइ देता ह
उसके हाने का अन्ततोगत्वा परिणाम क्या ?
अदृश्य का अस्तित्व नकारना
बुद्धिहीनता की सीमा है ।
वैसे बुद्धि सज्ञा क तत्त्व का होना भी
हमारा एक ऐसा भ्रम हे
जिसके बन रहने से
हम किसी भी भ्रम से मुक्त हाने में
सवदा असमर्थ हैं ।
27 9 97

दंभ

तुम्हारे चाहने न चाहने स
सूरज का उगना –

वन्द तो नहीं हो जायेगा।
पृथ्वी की गति में
परिवतन कर सकोगे क्या ?
तुम्हारे भृकुटि सचालन से
ग्रह नक्षत्र वहक जायेंग क्या ?
नीहारिकायें चमकना वन्द कर देंगी ?

क्योंकि —
वन्दी हम सब अपने स्वकर्मों के
यह सारी दीवारें, लोहे की सलाखें
और ऊपर से उनमें ताले
हमने स्वय ही लगाये हैं न ?
यहाँ तक कि —
ऊपर छत बनाकर
भागने या आकाश को निहारने तक का रास्ता
स्वय ही वद किया है।
परम्पराओं की सीमट
रीति-रिवाजों की कॉंक्रीट
और धर्म-समाजों की वेडियों ने
हमें कील दिया है इस प्रदेश में, उस प्रदेश में।

आदमी की वोली भी
भूल गय है हम।
फसलें उगाई हैं अनेक भाषाओं की।
जो लिखती कुछ हैं, कहती कुछ हैं ?
और अर्थ कुछ और होता है।
हम अपने अपने विचारों के ककड-पत्थर
एक-दूसरे क घरों में फेंक
गर्व लेते हैं महायुद्धों को जीतने का।
युद्धों की विभीषिकाओं से परिचित होकर भी
एक युद्ध से निवट

दूसर को तयारा म लग जात हैं।
मभ्यता के हिमायता हम
वुद्धि के वृपभ क समान
अपना युद्ध जीत नहीं पाते
आर दूसरा को जीतने का मर्म समझाते हैं।

यह नहीं जानते कि
हमारे चाहने न चाहने से
मच्छर के पख भी नहीं हिलते।
27 9 97

है भी । नही भी ।

ज्यादातर एसा ही हाता ह
कि हम कहीं पहुँचने की काशिश में
कहीं और ही जा पहुँचते हैं
और फिर आश्चय करत हैं —
हम यहाँ क्या आर कसे पहुँचे ?
जसे कहीं पहुँचना हमारे हाथ मे ही था।
नहीं जानते क्या —
कि केवल चलना ही हमारे हाथ म था
आर हम इतना चल पाय यह भी
कोई नन्हीं उपलब्धि नहीं ह।
असभव ह कि हमारा
हर प्रयोग सफल हो ही जाये।
सभावना यही ह कि काई भी न हो।
कुछ कर पान की क्षमता से ही
सतोप क्यों नहीं कर लेते हम।
वैसे यह शका उचित ह कि
उनका क्या ? —

जो विना हिल-डुल भी
कहीं से कहीं पहुँचना चाहते हैं।
और कुछ तो —
सचमुच पहुँच जाते हैं।
तव समझ में नहीं आता होगा
कम-अकम का सिद्धात ?
मरी समझ में भी नहीं आता।
करने पर न होन
और न करने पर होने के मध्य
कहीं कुछ एसा सूक्ष्म तात्विक सूत्र ह
जो हम नहीं देख पा रहे।
शताब्दियाँ बीत गइ
उम्रें गुजर गइ
इस सूक्ष्म तन्तु का सुराग पाने
आहट सुनने को।
पर बुद्धि ही नहीं
कल्पनाओं के चित्र विचित्र
सूक्ष्म अनुवीक्षण यत्र से पर
कहीं कुछ ऐसा है —
जो नहीं भी है।
30 9 97

असमर्थता

और था भी क्या कुछ करने को
सिवाय इसक कि
किनारे बठा बैठा लहरें गिनता रहूँ।
यदि कोई बहुत पास आ जाय तो
डर कर थोडा पीछे खिसक जाऊँ।

पहल ता मुझ हाथ पैर बाँधकर
समुद्र म डाल दिया गया
और कहा गया कि तैरा।
डूबना नहीं चाहते तो तरो।
— 'तरना तुम्हारा जन्मसिद्ध अधिकार ह।' —

मैं अकेला कहाँ था ?
पर फिर भी —
निपट नितात अकेला था उस सागर में
हर साँस के साथ लगता था
अब गया अब डूबा।
भय से आँखें बद किय
अनक जलचरों क साथ डूबता, उतराता रहा।
यहा नियति थी
स्वीकारना पडा।
स्वीकारने पर हो खुली आँख
और किनारे पर पाया स्वय को।
पता नहीं किस लहर का वरदान था।

पर अतर क्या पडा उससे ?
अदृश्य सूत्रों स छूट कहाँ पाया मैं ?
कुछ कर सकने में असमर्थ
समय सागर की लहरें गिनता
शखा ओर सीपियों से समृद्ध
उनके भी लुट जाने के भय से त्रस्त
स्वय अपना स्वामी बनने की
मोती प्राप्त होने की
कल्पना भी कैसे करता ?
30 9 97

मृत्यु बुद्धिजीवी की

मेरा मरना —
तुम्हारे लिए नया होगा
मेरे लिए नहीं ।
मैं तो इस जीवन में
अनेक बार पहले भी मर चुका हूँ
और शरीरांत तक अनेक बार मरता रहूँगा ।
हम सभी जानते हैं कि मृत्यु अपने हाथ में नहीं
पर इस तरह रोज रोज का मरना —
यह भी अपने हाथ में कहाँ है ?
अब तो मुझे यह भी याद नहीं कि
मेरी सबसे पहली मृत्यु कब हुई थी ?
पिता के मरने पर
जिनके रक्त का मैं सार-तत्त्व था
या फिर माँ के मरण पर
जिसने उस सार-तत्त्व को पोषण दिया था ।
या कि अन्य संबंधियों और मित्रों की मृत्युओं पर।
— जब जब भी श्मशान गया —
हर बार कभी मन का
कभी मस्तिष्क का
एक न एक हिस्सा धराशायी होता रहा ।
और उस खोखली जगह में —
भरता गया भय ।
भौतिक जीवन-संघर्षों में भी मुझे
हताशाओं निराशाओं
विडंबनाओं के साथ अपमानों के चक्रव्यूह में फँसा
अनेक बार मारा काटा-पीटा जा चुका है
स्वाभिमान का सुदृढ किला
जब तक खंडहर नहीं हो गया ।
और भय के साथ हीनता के, लघुता के भाव ने

अपना साम्राज्य जमा लिया।

इस शरीर के घिसटत रहन स
सभी को मेरे जीवित हान का भ्रम है।
जीवित हूँ भी मे —
मृतका स बदतर।
उन्ह क्या पता कि एक जन्म में ही मनुष्य
अनेक जन्मा क कमफल भोगता है।
और यह जरूरी नहीं कि
वे सभी कम उसी ने किये हों।
अब मे समझा हूँ
पुनजन्म क सिद्धात का रहस्य।
जन्म म मृत्यु तक
शरीर का अणु अणु
लेता रहता है जन्मोपरान्त जन्म।
मन क ब्रह्माड क सार-मडला म
गिरती रहती हैं उल्कायें
बनते रहते हैं नए नए ग्रह
बदलते रहते हैं जीवन के समीकरण।

आर मनुष्य —
सुनता रहता ह काँव-काँव
अनेक साधना पथों की
— जो दावा करते हैं
पुनर्जन्मो से छुटकारा दिलाने का।
मे भी अनेक बार अनेक स्थाना पर
इस काँव-काँव का दाहराता रहा हूँ।
बिना सोचे-विचारे समझ
स्वार्थ साधन कृपा प्राप्त करने
अनेक मठो, मन्दिरा, दरबारों मजारा में
दुम हिला हिलाकर अहोभाव जताना

कहीं गधे के समान स्थिर
कहीं वृषभ के समान भीड के सामन
धसता रहा हूँ मैं।
कइ जगह गाय बना
प्रतीक्षा करता रहा हूँ
एक रोटी एक फेवर की।
किसी को निन्दा करने में
तोते की तरह अपने को दोहराता रहा हूँ।
यानी कहीं खीसें निपोर
कहीं खोखियाता रहा हूँ मैं।
कहाँ तक गिनूं-गिनाऊँ
मछली की तरह चिकना फिसलता मन
कभी भी पकड में नहीं आया।
वगुले की तरह ताकना —
अभी भी छोडा कहाँ है ?
बहुत हुआ —
आप न सुने
मुझे तो भिनभिनान की आदत पड गई है।

एक जन्म में ही
बार बार मरा हूँ
आर अनक पुनजन्मों का भी
भोगता रहा हूँ मैं।
30 9 97

अब नहीं हे

वह तो आता रहा मरे पास
सूय-किरणों के रथ पर चढकर
मैंने ही अपने द्वार बन्द कर रखे थे
उसके ऊष्मापूण स्पर्श को न पहचानकर।

तव उसने अपना समय वदला
आर रात्रि क अधकार को चीर
चाँदनी के धवल पख लगा
शीतल वयार के साथ
खिडकी से झाँका।
मैं ट्यूवलाइट में वठा
टी वी पर पश्चिमी सगीत सुनता
कर गया उसे अनदेखा।
ऐसा व्यवहार तो कोई
किसी भिखारी के साथ भी नहीं करेगा।

सूर्य अब भी निकलता ह
चाँद अव भी खिलता ह
पर उनकी ऊष्मा आर शीतलता में
एक ऐसी रिक्तता ह —
जिसमें नियम जडे हैं
सिद्धात बँधे हें
आदतन ऐसा हो रहा ह
होता था इसलिए हो रहा ह
होना था इसलिए हा रहा है।

पर इस रिक्तता में भरी सुगध
जो पूणता का बोध कराती थी
अब नहीं है।
1 10 97

अनन्याश्रित

अपनी पृथ्वी पर —
एक बिन्दु के समान मैं,

अपन सौरमडल में —
एक विन्दु क समान पृथ्वी
ब्रह्माड के सौरमडलों में —
विन्दु के समान अपना सूर्य-मडल,
और करोडों ब्रह्माडों में —
शाश्वत सत्य से प्रवाहित तुम।
एकमेव 'पूर्ण'
ऋचाओं मत्रों, अनुष्ठानों से परे
आदि-अनादि के द्वन्द्वों से मुक्त
क्या सिद्ध करना चाहते हो ?
मरी लघुता
या अपना विराटत्व।
पर कभी सोचा है —
मर न हान पर
कैस सिद्ध होगी तुम्हारी अविनश्वरता
यह मेरा नश्वर अस्तित्व ही है
जो तुम्हारे अस्तित्व का दर्पण है।
1-10 97

सुख · दुख

अलीगढी तालों से
स्वर्णमडित स्टील की साँकलों से
बन्द कर मन के सभी द्वार, खिडकियाँ
छिद्रों पर जड अहम् की पट्टियाँ
ढूँढ रहा उस सुनहरे सुख को
जा भटकता है बाहर
दुख को कैद कर अदर।
एक निकल नहीं पाता,
दूसरा आ नहीं पाता।
आनद के प्रकाश से रिक्त

भय क अधकार म मिक्त ।
आस्थाविहीन हा अधविश्वासा म जकडा मरा मन
खरादना चाहता हे सुख !

सुविधायें सुख नहीं होतीं ?
ओर कभी कभी ता वे —
सुख को धकेल, दुख ही बढाती हैं
प्रयत्न करने से कहाँ मिलता ह निर्मल आनद
ओर मिल जाने पर उसे सभालना
आर भी कठिन हाता ह ।
इस समझाय कान ?
दुख का अभाव भी ता सुख नहीं हाता !
सुख की अत्यल्प प्रतीति —
किसी का अभाव दूर करने मे शायद मिले !
खुल रखा मन क द्वार
पता नहीं किस क्षण अतिथि बन
सुख चला आय !
पहचान सकागे न सुख को ?
एसा न हो कि वह पास ही खडा हा
या निकट मे सहज ही स्पर्श कर निकल जाये ।
सुख —
जीवन का वह शाश्वत क्षण है
जिसमें मनुष्य —
मृत्यु क भय स मुक्त रहता लगता है ।
चिरकालीन सुख ता
असभव है इस पृथ्वी पर
जो स्वय भी दौड रही अनादिकाल स
सुख क एक क्षण को शाति से जाने क लिए ।

इसालिए कहा है —
चरैवेति चरैवेति
स्थिरता सुख नहीं जडता है ।
12 10 97

भ्रम

इस ब्रह्माड में —
कहीं भी, कुछ भी तो स्थिर नहीं दीखता।
करोडों सौरमडलों से बनी नीहारिकायें
हमारे सौरमडल के ग्रह, नक्षत्र,
दूरियाँ नजदीकियाँ
विशेषकर पृथ्वी पर आदोलित होते सागर
पिघलते, जमते थरेंवाले पर्वत
गर्म सर्द ऋतुओं का रूप बदलता समय
क्षण क्षण बढती, धीमे धीमे घटती आयु
और उसमें भी सर्वाधिक चचल मन
सभी कुछ अस्थिर हैं।

तो फिर —
बीजगणित से बढते सबध
अकगणित में कैसे बदल सकते हैं ?
दो और दो, पाँच ही बनते हैं।
समस्या का पता हो,
तभी तो समाधान खोजोगे
जीवन का बहीखाता तो नितात कोरा है।
गुरूत्वाकर्षण से पृथ्वी पर टिके पैर
नहीं तो वह भी उडते होते अवकाश मे।
शून्य से तो शून्यों का ही हो सकता है जन्म
जिनके आगे-पीछे की शून्यों की सख्या —
सूर्य से उत्पन्न हो
चन्द्र से रस-सम्पन्न हो
पृथ्वी के विशाल अतराल में समा जाती है।
शून्यों की श्रखला की एक कडी होने का महत्त्व
शून्य न होने का भ्रम है।
14 10 97

मुक्ति

चन्द्र पर पहुँच
मृत्यु का वहका पाऊँगा ?
शिखर पर चढ
आकाश को बाँहों में समेट पाऊँगा ?
जलयान में बठ
महासागर को माप पाऊँगा ?
देवालय में ध्यान लगा
असीम को जान पाऊँगा ?
ज्ञानी होन का मरा अहम्
शकाआ के चक्रव्यूह में फँसा
अनेक बार कुचला जाकर भो
अपनी हार क्यो नहीं मान लेता ?
जबकि वह जानता है
मेरा होना एक अनहोनी थी
आर उसका मुलम्मा
मुझ न होने की मुक्ति नहीं दिला सकता।
14 10 97

इक्कीसवी सदी

धुएँ के शहर में –
तेरहवीं मजिल पे रहते हैं हम।
मिलो के भोंपुओं की चिंघाडें
जगाने का काम करती हैं।
उनमें चलती मशीनों की धडाधड
हमारी प्रार्थना में साथ देते वाद्ययत्र।
फ्लैट को सहारा का रेगिस्तान बना
सूर्य अपने अस्तित्व का बोध कराता है।

चाँद आर तारे तो हम टी वी पर ही देख पाते हे।
खिडकी में झाँकने पर रास्ते
पगडडियों से लगते हैं।
उन पर रेंगते प्राणिया को दख
अपनी लघुता की प्रतीति होती ह,
ओर जागता हे अध्यात्म
श्मशान-वैराग्य सा।
सडकों पर दाडत वाहन
बच्चों के खिलानों से लगते हैं
प्रकृति को तो हमने --
अपने ड्राइगरूम मे सजा लिया है
प्लास्टिक के फूला, कैलेन्डरा, शो-पीसेज क माध्यम से।
वह हमारा बचपना था जब हम
गाँव क कच्चे घर के आँगन मे
बान की चारपाई पर लेट
चाँद-तारों स बतियाया करते थे।
नीम की पत्तियाँ --
हम पर चँवर डुलाया करती थीं।
अब हम पढ-लिखकर
लाँडरी में धुले वस्त्र पहन
कच्ची अमियों हरी इमली पथरीले अमरूदों का
स्वाद तक भूल गये हें।
अब हम चाँद-तारों को
सन-मून कहा करते हे।
और बिजली के प्रकाश में बिजली के साधनों से
हथेली में चाँद दिखा सकते हें।
पेडों से मिले निकल जाते हें महीनों
बाल्कनी के मनीप्लाट ओर कक्टसों से
रोज मिल लेते हें।
पहले हम रस-भरे वृक्षा को ही जानते थे
हम जानते ही नहीं थे कि केक्टस

हजार जात क हुआ करते हे ।
और कम से कम वह मनुष्य की तरह
विना डिस्टर्ब किये काँटे नहीं चुभोत ।
हमारे बच्चे –
इक्कीसवीं सदी म घुसने की
तयारी कर रहे हें ।
अग्रेजी स्कूल में पढते हें
जिसके लिये हम तरस गय ।
हिन्दी तो सीखत हे पर –
माँ को 'ममी' बना पिता का 'डड' कहते हैं ।
उन्हें भविष्य क यथार्थ का ज्ञान है
इसीलिये किसी से 'राम राम' न कर
'हाय-हाय' करत हे ।
आर इसतरह सभी को
भविष्य के खतरा से अवगत करात है ।
यह तो हमारे पारिवारिक जीवन का
ट्रेलर मात्र ह
जो इस महानगर में
टी वी पर आनवाली फिल्मों के मध्य
दिखाये जानेवाले विज्ञापनों के समान
फ्लैट फ्लट में रिपीट हो रहा है ।
पूरी फिल्म ता आप
इस महानगर में यदि कोई फ्लेट-कमरा मिल जाये
तभी देख पायगे ।
15 10 97

शायद

हर एक व्यक्ति अपन अपने ढग से
समझाता है तुम्हारा अर्थ ।

उस ढग से
जिसे वह सही समझता ह।
पर वह सही समझा ह —इसका प्रमाण ?
और उसे समझानेवाले ने सही समझाया इसका प्रमाण ?
उसने जिससे समझा ह
वही सही समझा था इसका प्रमाण ?

कुछ व्यक्ति प्रमाण भी देते हें।
अलौकिक को समझने-समझाने के लोकिक प्रमाण।
व प्रमाण भी कितने प्रामाणिक हें इसका प्रमाण ?
हो सकता ह कि वे सही हों।
सभी सही हा।
पर कुछ या सभी गलत भी हो सकते हें।
किसी भी तथ्य के अनेक पुनरावर्तनों मे
कहीं न कहीं भूल हो जाना स्वाभाविक ह।
ज्ञान की प्राचीनता —
भूला की सभावनायें बढाती है।
प्रत्येक पुनरावर्तन
मूल कृति पर
एक नया आवरण डाल देता है।
एक भूल सारे गणित को
सभी प्रमाणा के परिणामों को
झुठला सकती है।
क्या कोई भी कल्पित सत्य
शाश्वत सत्य के निकट पहुँचा सकता है ?
सत्य, भोतिकशास्त्र का प्रयोग नहीं हे।

वास्तव में तो तुम्हारा अर्थ —
किसी भी भाषा म समझना, समझाना सभव नहीं लगता
ओर फिर उसके विभिन्न भाषायी अनुवाद ?
शायद यह व्यर्थ की चर्चा हे।
18 10 97

अनिश्चितता

लक्ष्य ही निश्चित नहीं था।
न ही यह ज्ञान
कि वहाँ पहुँचन पर क्या मिलेगा ?
करता भी क्या ? भटकन के सिवा।
कभी एक दिशा मे कभी दूसरी
कभी एक के साथ कभी दूसरे के
जो भी सफल हुआ मेरी बुद्धि बहकाने में —
उसी के साथ मन लग गया।
साधन भी बदलते गये
रास्ते एक दूसरे का काटत रह
भटक भटककर जहाँ से चला था
लाट लाट कर वहीं वहीं आता रहा।
जिस आत्मविश्वास से चला था
वह तो छीज ही गया
एक नया अतिथि मन म बस गया —
वह था भय।
धीरे धीरे उसके पूरे परिवार ने
मुझे चारा ओर स घर लिया।
रास्ते ही नहीं
दरवाजे, झरोखे भी बन्द हा गय
प्रकाशहीन कक्ष मे
अपने ही कर्मा की शृखला में बँधा
प्रतीक्षारत हूँ किसी चमत्कारिक प्रकाश-किरण की।
18 10 97

अधिकार

कर्म करन का अधिकार दिया ही कब ?
न ही बताया गया समय कर्म करने का ?
कम का आरभ करना
निष्कर्म भी हो सकता था।

यह ता ऐसा ही हुआ
हम किसी स कह किसी रास्ते से जाने को
बिना यह बताये
कहाँ जाना है ? क्यों जाना ह ? कब जाना हे ?
न ही गति का ज्ञान दें
और न ही पहुँचने के समय का।
भविष्य का अज्ञान हितकर होकर भी
अहितकर सिद्ध हो सकता ह।
कर्म-समय के ज्ञान के अभाव म
अनेक अधूर कर्मों को इकट्ठा कर
कब, कान सा सम्पूर्ण कर्म बना है ?
फल की बात नहीं, कर्मकाल की बात है।
निष्काम कर्म करूँ
पूर्वायोजन के अभाव में
यही नियति ह।
में अपना स्वामी न बन सकूँ
ठीक है।
पर अपने कर्मो का कत्ता तो कहलाऊँगा न ?
करोडों वर्षो से करोडो जीव
करोडा अधूरे कर्म कर करके
कुछ न कर सक पान की यातना भोग रह हैं।
प्रत्येक पल बदलते ब्रह्माड में
बदलते सदर्भो बदलते व्यक्तित्वों में
कर्मकाल की अवधि के अभाव म
कुछ न कर पाने की सजा भोग रहे हैं।
मरी गणना भी
उसी भीड में होगी।
सम्पूर्ण आस्था से कर्म करने पर भी
वहीं का वहीं रहने पर विवश हूँ।
निमित्त हूँ, निमित्त हूँ — दोहराता हूँ।
अपराध किये बिना दण्ड भोगना

क्या यही निष्काम कर्म की व्याख्या है ?
18 10 97

बंधन

पिंजरे में बंदकर मुझे
उड़ने का अधिकार दिया है तुमने ।
सभी द्वारों को बंद कर
एक खिड़की खुली रखी है
जिसमें से सिर्फ आकाश का एक टुकड़ा ही दिखाई दे ।
और कहा गया है पहचानने को
ब्रह्मांड के रहस्य ।

अज्ञानी मैं —
समझ न पाया नियति का भू-संचालन
अपने क्षुद्र ज्ञान पर
हिमालय से अज्ञान पर अभिमान कर
उलझता गया स्वनिर्मित सिद्धांतों के जाल में ।
बौद्धिकता की चलनी में
छानता रहा सारतत्व
आत्मा के निरीक्षण विश्लेषण में
करता रहा उसका पोस्टमार्टम ।
ज्ञान-विज्ञान के पदचिह्नों ने
कहाँ कहाँ न भटकाया
विविध भाषाओं में लिखे धर्मशास्त्र
एक ही तथ्य को —
विभिन्न संज्ञाओं से संबोधित करने के कारण
उलझाते अधिक रहे ।
और साथ ही मेरी आधुनिकता के दबाव
और आस्था के अभाव में

आलमारिया में ही सजे रह ।
सच ता यह ह कि उनके शीपका से
वहकाने की गध आती रही ।

तर्क कुतक, वितर्क के भँवर में
डूबता उतराता मे
सत्य के द्वार से वार वार लाट आया ।
20 10 97

रिक्त गठरी

जीवन की गठरी –
जन्म स ही छिद्रपूण थी
दखा ही कव था मैंने ?

आयु के रिसने के साथ
बडे हाने के भ्रम में जिया ।
रिश्त-नाता के चहरो पर पुते
मुलम्मे की चकाचौध मे
मैं अपन स्वय के चेहरे को भूल सा गया ।
सत्य को सफेद बता
जगत ने उसकी पारदर्शकता छीन ली,
ओर जीवन क सत्य पर
रगों की परत चढती गईं ।
सत्य को काला भी बताते
तो भी कम से कम उसकी क्षमता अक्षुण्ण रहती
बदरग होने से बच जाते दृष्टिकोण ।
द्वन्द्वा की रेती ने
सवदनाओं को धार कुठित कर दी
उदासीन सवेदनाओं से
मैं तुम्ह समझ ही कैसे पाता ?

आयु के अमूल्य द्रव्य से रिक्त
गठरी जसी लगती वस्तु की जगह
एक फटी-कुटी मली मी चादर वची है
जो न ही कफन बन मकेगी
न हा दाग-धब्वों को छिपा सकेगी।
23 10 97

आत्मनिरीक्षण

लम्ब लम्ब –
वजनदार शब्दा द्वारा
स्वय को धाखा दन का प्रयत्न करता मनुष्य।
दयनीय आर हास्यास्पद लगता जीव।
विशपकर जब वह –
करता हे आत्मनिरीक्षण की चचा।

कान करगा यह आत्मनिरीक्षण ?
आत्मा स्वय का ?
या मन आत्मा का ?
या शरीर मन का ?
और फिर –
आत्मा का निराक्षण सभव ह क्या ?
यह कोई हवा है ?
जिसके भार गति दिशा जसे
भौतिक तत्त्वों का विश्लपण हो सके।
इसके रग रूप आकार, प्रकार का –
परिचय कहीं मिलता ह क्या ?
अदृश्य को दृष्टि म कोई आँज पाया ह क्या ?
कोई आधार है इसक विभाजन विश्लेषण का ?
ऋषि-कवियों की कल्पनाआ क सिवा।

आत्मनिरीक्षण –
कर्मों का करना ह क्या ?
क्या हम सभी सचित,
सभी क्रियमाण कर्मो का ज्ञान ह ?
अचेतन क सस्कारा का भार
जन्म म ही बढता रहा ह
क्या उसका विश्लपण सभव हे ?
क्या यही आत्मनिरीक्षण हे ?

कान सी पद्धति अपनाआगे
गणित / बीजगणित ? रखागणित की ?
क्या यह रसायनशास्त्र का फार्मूला है ?
किसी कम्पनी द्वारा पेटेन्ट कराया हुआ।
जहाँ सत्य का स्वरूप, विश्लेपण सभव नहीं
वहाँ आत्मा का निरीक्षण ?
निरीक्षण का भ्रम उत्पन्न कर –
निरीक्षक का पद प्राप्त करना है।
भ्रातिया के समूह से जकडा मन
अपनी चचलता से मुक्त नहीं हा पाता।
उस पर आत्मनिरीक्षण।

इसकी यागिक-प्रक्रिया में
जड, चतन का अतर है क्या ?
या फिर –
जडता करेगी चेतन का निरीक्षण ?

आत्मा-परमात्मा को –
जोडने घटान के तर्कशास्त्र
मनुष्य ने ही बनाए हैं न ?

विभिन्न प्रदशा म
जितनी भाषायें हें
जितन धम हें सम्प्रदाय हें
उनसे अधिक हे उनके धमशास्त्र
फिर धमशास्त्रों क बने तर्कशास्त्र
सदियो पूव वन इनक सिद्धातों म —
कोई भी कभा भी
कुछ भी जोडता कुछ भी घटाता आया ह्।
जसे आत्मा-परमात्मा का सवध
अध्यात्म न होकर
गणितशास्त्र का फामूला हा
नॉबल प्राइज जीतन को
— एक नया अन्वेषण।

आश्चर्य यह है कि
एक बुद्धिजीवी का भी
व सभी अपनी अपनी जगह
ठीक सटीक सही लगत ह।
क्या इसस ही इनके शब्दजाल होने की
गध नहीं आती।

आत्मनिरीक्षण क्यों ?
आत्मा का निरीक्षण करके पहचानन को ?
यह विचार-प्रक्रिया से सभव ह क्या ?
सवदनाओं का जटिलता तो उमम भी गहन है
या यह केवल स्वपरीक्षण है
अपन अकरणीय का करणीय सिद्ध कर
मन का बहलान को
एक भारी भरकम शब्द द्वारा।
इसकी सीमाओं आयामा का आदि-अत है क्या ?

आत्मनिरीक्षण का उपदेश सुन
समझ नहीं पाता हूँ
रोऊँ या अट्टहास करूँ।
तर्कशास्त्र की विचार-प्रक्रिया
हमारे लौकिक भ्रमों का भी नाश
— कहाँ कर पाती है।
फिर किस आधार पर होगा 'आत्मनिरीक्षण' ?

आत्मा की आत्मा से तुलना करोगे।
जो स्पर्श से परे है
अग्नि, जल वायु के प्रभाव से परे है
वह कर्मों में लिप्त हो ही कैसे सकती है ?
कर्म भले निष्काम हों
फल तो मिलता ही है
अच्छा बुरा, अपेक्षित अनपेक्षित।
नश्वर के कर्मों का फल
शाश्वत आत्मा भोगती है या शरीर ?
यदि शरीर माध्यम है आत्मा के भोग का
तो इसके नष्ट होने पर परिताप क्या ?

'आत्मनिरीक्षण' शब्द सुन लगता है
जैसे कोई शिला बाँध
सागर में कूदना चाहता हो
मापने उसकी गहराई।
बेशक ले जायेगा तल में शिला का भार
पर आत्मा भी ले लेगी जल समाधि।
29 10 97

रोबोट

तुम्हारा दावा था —
एक दूसरे को समझने का।
मरा दावा था —
सारे ससार को समझने का।
शास्त्रीय सिद्धातो की कसाटी पर —
- विश्लपण करने का
- विभाजन करने का।

भ्रम मे जिय तुम
भ्रम में जिया म।
वास्तव में तो हम —
अपने का ही कहाँ जान पाय।
समझना ता दूर -
अतात भी भूल गय
भविष्य ता वैस भी अज्ञात था।

मकान हुआ करें पास पास
अलग अलग दिशाआ में खुलतीं जब खिडकियाँ
अलग अलग दृश्या के रग रूप गध।

जा तुम्हार पास है मुझस दूर ह
मर पास का तुमस दूर
एक दृष्टिकाण से देखना
असभव का सभव बनाने की चष्टा
— सिर्फ पागलपन।
बुद्धि स समझना सवदनाओं का मम
भावुकता से भटकना इडा क तर्कजाल में
जीवन महाकाव्य नहीं है
न हा महाकाव्य जावन का पर्याय।
कसे सम्भव है ठास यथाथ का भूमि पर
इडा समन्वित श्रद्धा का विजयिनी बनना।

प्रश्न जितना सरल था -
उत्तर उससे अधिक जटिल
मैं और तुम -
समझेंगे कसे ?
अवयव एक से हों !
मनुष्य मशीन नहीं
जो सभी अवयव एक साँचे में ढले हों !
नसें रुधिर, माँस-मज्जा एक से हों
फिर भी कुछ ऐसा है -
जो उसे पशु और मशान से अलग करता ह ।
17 11 97

परिवर्तन

जमीन पर खडा
आसमान पर दाँत पीसता
नार लगाता था कभी
पूरे आत्मविश्वास के साथ
'बदल कर रख दूँगा सारी दुनिया को मैं ।'
नभ के मुस्कराने पर
आर भी गम हो जाता था लहू ।

उगलता रहा आग
-लम्बे-चौडे भाषणों में
उद्दीप्त करता रहा स्वाभिमान
मुट्ठियाँ भींच भींच कर,
टकराता रहा शीश
हवाओं की दीवारों से,

दाडता भागता रहा रात-दिन
पृथ्वी के एक छार स -
- दूसर छोर तक
सुनाता रहा प्रभातियाँ
क्रातियाँ जगाता रहा
बदलता रहा चेहरे
सत्ता के सिंहासनों के ।

बढ़ते रहे आँकडे
शहीदों के विधवाओ के,
नाजायज सतानों
- निधनों की झुग्गिया के
हाँफते रहे दिन
- जागती रहीं मेरी रात ।

सृष्टि के किसी क्रम म
न आया कोइ परिवर्तन ।

मुस्कराते रहे सत्ताधीश
खून से लिखते रहे सविधान
और इतिहास ?
सिर्फ दोहराते रहे अपने को ।

घिसता रहा अहम्
थकते रह पाँव
जमता गया रुधिर
- हिमालय की बरफ सा ।
गिरती रहीं उल्काएँ
- टूटते रहे भ्रम ।

मेरे जैसे कितने ही
— आए
और आकर चले गए ।
18 11 97

साहित्य महोपाध्याय डॉ भगवतशरण अग्रवाल

जन्मतिथि	_3 फरवरी 1930
जन्मस्थान	फतेहगंज पूर्वी जनपद बरेली उत्तरप्रदेश
शिक्षा	एम ए पीएच डी लखनऊ विश्वविद्यालय
पद एवं सेवाएँ	पूर्व अध्यक्ष एवं प्राफेसर स्न चर्य
	गुजरात विश्वविद्यालय हिन्दी अनुस्नातक केन्द्र
	एम जी आर्ट्स कालेज अहमदाबाद-9
	पूर्व सदस्य कार्य सक्य गुजरात विश्वविद्यालय
	पूर्व सदस्य गुजरात विश्वविद्यालय
	पूर्व अध्यक्ष हिन्दी बोर्ड गुजरात विश्वविद्यालय
	पूर्व सदस्य बोर्ड आफ एकाउन्टस गु वि वि
	पूर्व हिन्दी विषय सलाहकार
	गुजरात राज्य पाठ्य पुस्तक मंडल गांधीनगर
	पूर्व सदस्य हिन्दी बोर्ड दक्षिण गुजरात
	विश्वविद्यालय भावनगर विश्वविद्यालय एवं
	उत्तर गुजरात विश्वविद्यालय
	पूर्व सदस्य गुजरात विश्वविद्यालय क्षमाय कान्ना
	टाम्स एसमियदन
	पूर्व सम्पादक स्थान मासिक लखनऊ एवं
	अगनु मासिक आगरा
	पूर्व सदस्य मानक मासिक आगरा अ
सम्प्रति	कार्यकारिणी समिति सदस्य
	गुजरात राज्य हिन्दी साहित्य अकादमी।
	सदस्य साहित्य-भाषा अकादमी।
	सदस्य हिन्दी बोर्ड गुजरात विश्वविद्यालय।
	एक्स्टर्नल कन्सिलर स्थित स्वाय
	मुक्त विश्वविद्यालय आदि।
	विजिटिंग गु वि वि हिन्दी अनुस्नातक
	केन्द्र अतिथि गुजरात विश्वविद्यालय।
स्थायी निवास	306 मार्ग अहमदाबाद के पास
	अहमदाबाद 350 015 गुजरात भारत।
दूरभाष	67 10775